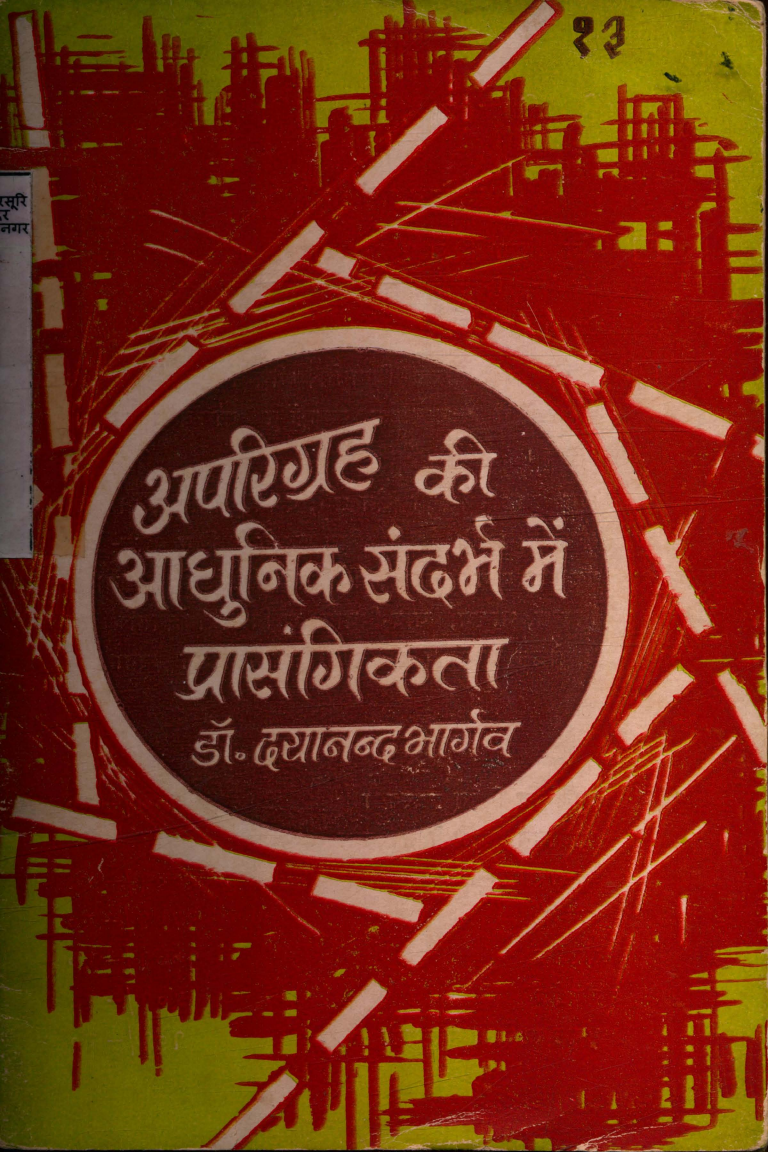
अपरिग्रह की
आधुनिक संदर्भ में
प्रासंगिकता
डॉ. दयानन्द भार्गव

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्

उद्देश्य एवं प्रवृत्तियाँ

- ☐ जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान, संरक्षण, संवर्धन, लेखन-प्रकाशन, प्रचार-प्रसार आदि में सहयोग देना।
- ☐ जैन विद्या में निरत विद्वानों, श्रीमन्तों, कार्यकर्ताओं व संस्थाओं में पारस्परिक सम्पर्क व सामंजस्य स्थापित करना।
- ☐ जन-साधारण को जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से परिचित कराने के लिए समय-समय पर व्याख्यान मालाओं, शिविरों, संगोष्ठियों, सेमिनारों, निबन्ध, भाषण, वाद-विवाद आदि प्रतियोगिताओं का आयोजन करना व सम्बद्ध साहित्य प्रकाशित करना।

सदस्यता—श्रेणियां

आजीवन विद्वत् सदस्वता	१०१/- रु०
आजीवन सहयोगी सदस्यता-	
आधार स्तम्भ	५००१/- रु०
स्तम्भ	२५०१/- रु०
संरक्षक	१००१/- रु०
संवर्धक	५०१/- रु०
ट्रैक्ट साहित्य सदस्यता	१०१/- रु०

ज्ञान-प्रसार पुस्तकमाला—१३

अपरिग्रह की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता

डॉ० दयानन्द भार्गव
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
तथा अधिष्ठाता
कला एवं शिक्षा तथा समाज विज्ञान संकाय
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्रकाशक
श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्
जोधपुर

जैन विद्वत् परिषद् प्रकाशन संख्या–१९

☐ अपरिग्रह की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता

☐ लेखक
डॉ० दयानन्द भार्गव

☐ सम्पादक—संयोजक
डॉ० नरेन्द्र भानावत

☐ अर्थ-सहयोगी
श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
भोपालगढ़ – ३४२६०३ (जोधपुर) राजस्थान

☐ प्रकाशक
श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्
सी–२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलकनगर
जयपुर—३०२००४ (राजस्थान)
फोन : ४७४४४

☐ प्रथम संस्करण : जनवरी, १९८६

☐ मूल्य : दो रुपये

☐ मुद्रक :
अजन्ता प्रिण्टर्स
जौहरी बाजार जयपुर–३०२००३
फोन : ४४०५७

प्रकाशकीय

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् का मुख्य लक्ष्य जैन विद्या के अध्ययन-अनुसंधान, प्रचार-प्रसार में संलग्न विद्वानों, श्रीमन्तों, कार्यकर्त्ताओं व संस्थाओं के सहयोग-सम्पर्क से आत्म-चैतन्य को जागृत करते हुए स्वस्थ समाज-रचना के प्रयत्नों को गतिशीलता प्रदान करना है।

वर्तमान युग में प्रेस और मुद्रण के आविष्कार से ज्ञान का अत्यधिक विस्तार हुआ है। पर जीवन निर्माणकारी आध्यात्मिक ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त उपेक्षित है।

जैन विद्वत् परिषद् ने 'कुआ प्यासे के पास जाए' अर्थात् विद्वानों, अनुभवी चिन्तकों और तपःपूत साधकों के विचार जनसाधारण तक पहुँचें, इस उद्देश्य से 'ज्ञान प्रसार पुस्तकमाला' का प्रकाशन आरंभ किया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर विविध विधाओं में १०८ पुस्तकें प्रकाशित करने का हमारा लक्ष्य है। १०१ रु० देकर कोई भी व्यक्ति या संस्था ट्रैक्ट साहित्य सदस्य बन सकते हैं। सदस्यों को इस योजना के सभी उपलब्ध प्रकाशन निःशुल्क प्रदान किये जायेंगे। सदस्यता राशि 'श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद' के नाम ड्राफ्ट या मनीआर्डर से भेजें। १५०० रु० की राशि प्रदान कर कोई भी व्यक्ति या संस्था ट्रैक्ट प्रकाशन में सहयोगी बनकर श्रुत सेवा का लाभ उठा सकते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ भोपालगढ़ ने अर्थ-सहयोग प्रदान किया है। यह संघ शिक्षा,

साहित्य, संस्कार-निर्माण, जीव-दया आदि क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट सेवाओं के लिए विख्यात है। आज से ५७ वर्ष पूर्व संघ द्वारा स्थापित 'श्री जैन रत्न विद्यालय' अपने अनुशासन, शानदार परीक्षा परिणाम, संस्कार निर्माणकारी छात्रावास आदि के लिए प्रसिद्ध है। सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'जिनवाणी' का आरंभ आज से ४३ वर्ष पूर्व यहीं से हुआ था। यहां का जैन रत्न पुस्तकालय काफी समृद्ध है। जीव दया के क्षेत्र में अमर जैन बकराशाला, कबूतर-खाना एवं गौशाला अपना वैशिष्ट्य रखते हैं।

सं० १८५४ में आषाढ़ कृष्णा द्वितीया को पूज्य आचार्य श्री रत्नचन्दजी म० सा० ने यहीं अपने १४ सन्तों के साथ क्रियोद्धार किया था। उन्हीं के षष्ठ पट्टधर आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० का सं० २०४२ का चातुर्मास भोपालगढ़ में हुआ। आचार्यश्री के सान्निध्य में संघ के सहयोग से अ० भा० जैन विद्वत् परिषद के तत्त्वावधान में २०, २१ व २२ अक्टूबर, ८५ को 'अपरिग्रह एवं उपभोग परिमाण व्रत संगोष्ठी' व 'आचार्य श्री रत्नचन्द्र स्मृति व्याख्यानमाला' का पंचम व्याख्यान आयोजित किया गया। व्याख्यानदाता डॉ दयानन्द भार्गव ने ट्रैक्ट के रूप में यह व्याख्यान प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की व भोपालगढ़ संघ ने अर्थ-सहयोग दिया—अतः परिषद आभार मानती है।

भंवरलाल कोठारी — अध्यक्ष

डॉ नरेन्द्र भानावत — महामंत्री

श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर

अपरिग्रह की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता*

वैदिक, बौद्ध तथा जैन—तीनों परम्पराओं में पंच व्रतों का उल्लेख है जिनमें प्रथम चार—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य—तीनों ही परम्पराओं में हैं किन्तु पंचम व्रत के सम्बन्ध में तीनों परम्पराओं में मतभेद है। वैदिक परम्परा दान को पंचम व्रत के रूप में स्वीकार करती है, जबकि बौद्ध परम्परा मादक द्रव्य त्याग को पंचम व्रत मानती है। जैनों में पंचम व्रत अपरिग्रह है। हर्मन जैकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' की भूमिका में इस मतभेद का उल्लेख किया है।

---

* श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् एवं श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ भोपालगढ़ (जोधपुर) के संयुक्त तत्त्वावधान में 'अपरिग्रह की अवधारणा में जैन परम्परा का योगदान तथा उसकी आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता' विषय पर आयोजित 'आचार्यश्री रत्नचन्द्र स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़ के सभागार में दिनांक २० अक्टूबर, १९८५ को दिया गया पंचम व्याख्यान।

यह तथ्य भी सर्व विदित है कि जैन परम्परा में भी महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के चातुर्याम ही थे। अधिक सम्भावना यही है कि पाँचवा व्रत अपरिग्रह महावीर की देन है*। बाद में पतंजलि ने अपने 'योग सूत्र' में प्राचीन वैदिक परम्परा के पाँचवें व्रत दान के स्थान पर अपरिग्रह को ही रखा। स्पष्ट है कि महावीर के माध्यम से अपरिग्रह का मूल्य उभर कर वैदिक परम्परा में भी अन्तर्भुक्त हो गया। फिर भी अपरिग्रह का जितना आग्रह जैन-परम्परा में रहा उतना आग्रह न बौद्धों में रहा, न वैदिक धर्मावलम्बियों में। जैनों में जो दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—उनका भी मतभेद मुख्यतः इस विवाद पर आधारित है कि वस्त्र मुनि के लिये परिग्रह है या नहीं? इस विवाद ने भी जैन परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा के सम्बन्ध में गहरा विचार-विमर्श करने की प्रेरणा दी।

प्रतीत होता है कि स्वयं जैन परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा महावीर की देन है तथा भारतीय परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा जैन परम्परा की देन है। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों में अपरिग्रह का उल्लेख नहीं है यद्यपि 'ईशोपनिषद्' त्याग पूर्वक भोग करने की

---

* जैन मान्यतानुसार चातुर्याम में चौथा व्रत अपरिग्रह था। महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य और जोड़ा। —सम्पादक

बात कहता है—'तेन त्यक्तेन भुज्जीथा'—जिसे अपरिग्रह की अवधारणा का बीज माना जा सकता है। किन्तु वैदिक परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा के पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर बहुत कम था। उपनिषदों का झुकाव निवृत्ति की ओर था किन्तु फिर भी वैदिक परम्परा केवल उपनिषदों पर आश्रित नहीं थी; वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकाण्ड तथा उससे जुड़ा हुआ प्रवृत्ति मार्ग वैदिक परम्परा के सदा से अविभाज्य अंग रहे। इन निवृत्ति-प्रवृत्ति के सम्मिश्रण से ही 'गीता' का निष्काम कर्मयोग उत्पन्न हुआ।

इसके विपरीत जैन धर्म का बल सदा निवृत्ति पर रहा। अपरिग्रह का समन्वय सदा निवृत्ति से ही रहा है। प्रवृत्ति के साथ परिग्रह अनिवार्य रूप से जुड़ ही जाता है। निवृत्ति को समझने के लिये जैन परम्परा में प्रचलित शब्द 'प्रतिक्रमण' अधिक उपयोगी है। जब चेतना स्वयं में ही डूब जाती है, वह प्रतिक्रमण है। जब चेतना 'पर' को मानो कुचलती सी है, वह आक्रमण है। प्रतिक्रमण और आक्रमण एक दूसरे के विरोधी हैं। एक चेतना का अन्तःरमण है, दूसरा चेतना का बहिर्भ्रमण है। दोनों शब्दों में धातु एक ही है—'क्रमु'। पाणिनी ने 'क्रमु' का अर्थ दिया है—पाद विक्षेप अर्थात् गति। फलितार्थ यह हुआ कि निवृत्ति तथा प्रवृत्ति प्रतिक्रमण तथा आक्रमण हैं—वे आत्मा की अन्तर्मुखी

तथा बहिर्मुखी वृत्तियां हैं। आत्मा ज्यों-ज्यों अन्तर्मुखी वृत्ति में लीन होती है त्यों-त्यों अपरिग्रह फलित होता है। साध्य तो आत्मरमण है, अपरिग्रह उसका स्वतः सिद्ध आनुषङ्गिक फल है—बाई प्रोडेक्ट है। इस दृष्टि से अपरिग्रह व्याकरण की दृष्टि से निषेधपरक शब्द होते हुए भी दार्शनिक दृष्टि से विधिपरक ही सिद्ध होगा। अहिंसा के बारे में भी यही स्थिति है। जब तक स्वयं की पकड़ नहीं होती तब ही तक 'पर' की पकड़—(ग्रहण)—बनी है, वही परिग्रह है। स्वयं की पकड़ होते ही 'पर' की पकड़ स्वयं छूट जाती है, वही अपरिग्रह है।*

इस तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने गुणस्थान की भाषा के माध्यम से समझाया है। सम्यग्दर्शन आत्मा की पकड़ है—वह चतुर्थ गुणस्थान है। अपरिग्रह व्रत है—वह पंचम तथा षष्ठ गुणस्थान है। कोई साधक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त किये बिना पंचम तथा षष्ठ गुणस्थान में नहीं जा सकता। इसे ही हमने समझाने की दृष्टि से ऊपर इस भाषा में कहा है कि स्वयं की पकड़ हुए बिना 'पर' की पकड़ छूटती नहीं।

---

* को णाम भणिजं बुहो परदव्वं, मम इमं हवदि दव्वं
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदो वियाणंतो
—समयसार २०७

अनात्मा में आत्मीयता का भाव ममता कहलाता है। यह ममता ही परिग्रह का मूल है।* ममता का अधिक प्रसिद्ध पर्यायवाची शब्द राग है। यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो जैन परम्परा में जो वीतराग शब्द तीर्थङ्करों तथा मुक्तात्माओं के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है, उस वीतराग शब्द का सही अर्थ अपरिग्रही ही है। राग ममता है तथा ममता परिग्रह। वीतराग का अर्थ होगा—जिनका राग अर्थात् ममता चली गयी। निष्पत्ति की भाषा में वीतराग अर्थात् अपरिग्रही। जिस प्रकार वेदान्त परम्परा में सच्चिदानन्द कहने से परमात्मा का बोध होता है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में वीतराग कहने से परमात्मा का बोध होता है। इस तथ्य से सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन साधना में अपरिग्रह को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि वाक्य जैन परम्परा के नहीं हैं किन्तु जैनों ने अहिंसा पर इतना अधिक बल दिया कि ये वाक्य जैनों के ही समझ लिये गये। जैनों का परम धर्म तो वीतरागता है क्योंकि वीतरागता के सध जाने पर अहिंसा तो स्वयं ही सध जाती है। जैन वीतराग के अतिरिक्त किसी और को नमस्कार करने

---

* जे ममाइय मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं

—समणसुत्तं १४२

के लिये तैयार ही नहीं हैं। वीतरागता की यह साधना साधु जीवन से सही अर्थ में प्रारम्भ होती है तथा अरिहन्त, सिद्ध भगवन्तों के अस्तित्व में चरम परिणति को प्राप्त होती है। इसी यात्रा की पाँच सोपान पंच परमेष्ठी हैं।

यदि अपरिग्रह को जैन परम्परा ने इतना मूल्यवान माना तो इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपरिग्रह की अवधारणा का न केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया प्रत्युत इस अवधारणा का ऐसा विकास भी किया जो केवल भारतीय चिन्तन की ही नहीं प्रत्युत पूरी मानवता की एक मूल्यवान धरोहर है। हम अपरिग्रह पर विचार करते समय इन दो बिन्दुओं पर विशेष रूप से अपने को केन्द्रित करना चाहेंगे—१. अपरिग्रह की अवधारणा में जैन परम्परा का योगदान, तथा २. जैन धारणा द्वारा विकसित की गयी अपरिग्रह की अवधारणा की आज के सन्दर्भ में प्रासंगिकता।

अध्यात्म की सभी परम्पराओं में त्याग का महत्त्व है। भारत की भूमि पर जो चिन्तन परम्परायें पनपीं उनमें तो त्याग का महत्त्व है ही, मुस्लिम अथवा ईसाई परम्परा में भी त्याग का महत्त्व कम नहीं। आज ईसाई पादरी सारे संसार में घरबार के सुख छोड़कर कल्याण कार्यों में निरत हैं। त्याग के बिना यह कैसे सम्भव है?

जैन धर्म का तो प्राण ही त्याग है। जब कोई गृहस्थ साधु के दर्शन करता है तो साधु सदा उसे कुछ न कुछ त्याग करने की प्रेरणा देते हैं।

इस त्याग की सार्वभौमिक परम्परा में जैन परम्परा का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है—वह है मूर्च्छा की अवधारणा। मूर्च्छा शब्द जहां तक मुझे विदित है—जैन परम्परा में ही परिग्रह के अर्थ में आया है। वह जैन परम्परा में परिग्रह का लक्षण ही माना गया है—मूर्च्छा परिग्रहः*। यदि परिग्रह मूर्च्छा है तो अपरिग्रह का अर्थ होगा जागरूकता। जागरूकता जैन साधना का मूल मन्त्र है।

व्यक्ति परिग्रह क्यों चाहता है? जैन शास्त्रों का उत्तर है कि परिग्रह का कारण मूर्च्छा है। कारण-कार्य में अभेदोपचार करके मूर्च्छा को ही परिग्रह कह दिया गया है। मूर्च्छा के कई पक्ष हैं—मूर्च्छा में चेतना जड़वत् बन जाती है, मूर्च्छा में दुःख होने पर भी प्रतीति में नहीं आते, मूर्च्छा में हित-अहित का भेद नहीं रहता। शोक में जब हम बहुत दुःखी होते हैं तो मूर्च्छित हो जाते हैं। शल्य क्रिया में होने वाली पीड़ा के भय से भी हम जान-बूझ कर मूर्च्छित होने का उपाय

---

* तत्त्वार्थ सूत्र ७/१७

कर लेते हैं। दोनों स्थितियों में मूर्च्छा दुःख से जुड़ी है। साथ ही यह भी समझ लें कि मूर्च्छा से दुःख दूर नहीं होता प्रत्युत कुछ समय के लिए केवल वह विस्मृत हो जाता है।

सभी भारतीय चिन्तक सत्य की गवेषणा के मूल में दुःख-निवृत्ति की भावना को मानते हैं। दुःख-निवृत्ति के उपाय दो प्रकार के हैं—एक तात्कालिक, दूसरा दीर्घकालिक। अभाव की पूर्त्ति के लिये सामग्री जुटा लेना तात्कालिक उपाय है। सरदी लगे तो गर्म कपड़ा पहन लेना, भूख लगे तो स्वादिष्ट भोजन जुटा लेना, नींद सताये तो आरामदेह शय्या का प्रबन्ध कर लेना, मनो-विकार उत्पन्न हों तो सुन्दर स्त्री प्राप्त कर लेना—ये सब दुःखनिवृत्ति के तात्कालिक उपाय हैं। सांख्य दर्शन में इन्हें दृष्ट उपाय कहा गया है* । इन दृष्ट उपायों का बहुत लम्बा विस्तार है। विज्ञान की समस्त खोजें दृष्ट उपायों का ही विस्तार करती हैं। समस्त मादक द्रव्यों का आविष्कार भी दुःख-निवृत्ति के लिये ही हुआ है। इन दृष्ट उपायों में कुछ अत्यन्त स्थूल हैं, कुछ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। ऊपर हमने स्थूल उपाय दिये हैं। सूक्ष्म उपायों में क्रोध, मान, माया, लोभ,

---

* दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तिकात्यन्ततो भावात्।

— सांख्यकारिका–१

इत्यादि कषाय आते हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर भी हम दुःख भूल जाते हैं। यहाँ मान कषाय की तृप्ति दुःख-निवृत्ति का साधन बनती है।

ये समस्त इष्ट उपाय ही संक्षेप में परिग्रह हैं। स्थूल उपाय बाह्य परिग्रह कहलाते हैं, सूक्ष्म उपाय आन्तरिक परिग्रह कहलाते हैं। परिग्रह द्वारा दुःख की निवृत्ति तत्काल भले ही हो जाये, किन्तु वह दीर्घकालिक अर्थात् आत्यन्तिक नहीं होती। परिग्रह का आकर्षण समाप्त होते ही दुःख हमें फिर से आकर घेर लेते हैं। परिग्रह के इस स्वरूप के कारण ही परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया है। मूर्च्छा के बने रहने पर दुःख की प्रतीति नहीं होती किन्तु मूर्च्छा जैसे-जैसे टूटती है, दुःख प्रतीति में आने लगता है। यह भी निश्चित है कि एक निमित्त को पाकर जो मूर्च्छा होती है, वह मूर्च्छा शनैः-शनैः स्वतः मन्द पड़ती जाती है। उस मूर्च्छा को बनाये रखने के लिये फिर कोई अन्य बलवत्तर निमित्त चाहिये।

मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले सभी लोग इस अनुभव से गुजरते हैं। आज थोड़ी सी शराब से मादकता उत्पन्न होती है किन्तु कालान्तर में उतनी शराब मादकता उत्पन्न करना बन्द कर देती है। अब मादकता उत्पन्न करने लिये शराब की मात्रा बढ़ाते

चलना होता है। फिर शराब भी हल्की किस्म की नहीं बल्कि प्रगाढ़ (स्ट्राँग) चाहिये। अन्त में एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि शरीर शराब का बोझ सहन करने से इन्कार कर देता है किन्तु शराब से जो गम गलत हो जाने की गलतफहमी हो गयी थी, वह भ्रान्ति टूट जाती है। शराब से दुःख ढक जाते हैं, हट नहीं जाते। दुःखों का यह ढक देना अन्ततोगत्वा दुःख के बढ़ने का कारण बन जाता है; स्वयं ढक्कन भी एक दुःख बन जाता है।

जैन मनीषियों ने गहरे अनुसन्धान के बल पर यह खोज निकाला कि शराब ही नशा नहीं करती, सब परिग्रह मात्र एक नशा है। आज आपके घर में नयी-नयी कार आयी, पूरा घर कार आने की खुशी में मग्न है। लेकिन यह खुशी बहुत क्षणिक है। कार दिन-प्रतिदिन बल्कि घन्टा प्रति घन्टा पुरानी पड़ती जाती है और उसी मात्रा में कार आने की खुशी भी पुरानी पड़ती जाती है। महीने भर बाद आपको इस विचार से कोई रोमाञ्च नहीं होता कि आपके पास कार है। कार आपके लिये एक रुटीन हो गयी। कार का नशा खत्म हो गया। कार की मूर्च्छा भङ्ग हो गयी, अब वही नून, तेल, लकड़ी की चिन्तायें आपको घेर लेती हैं। अब अगर दुःख को भुलाना हो तो कार काफी नहीं है, कोई नया नशा चाहिये। कार को वातानुकूलित करवा लें, कुछ दिन

फिर नशा चढ़ा रह सकता है, कुछ दिन फिर आप दुःख भूले रह सकते हैं। लेकिन कोई भी नशा आखिर नशा है, वह देर सवेर उतरेगा और जब नशा उतरेगा तो आपकी दशा पहले से ज्यादा खराब होगी।

कोई भी परिग्रह हो—मकान, यश, स्त्री, पद—सब एक उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। वह उत्तेजना सुखद प्रतीत होती है। लगता है कि दुःख सदा के लिये विदा हो गये। लेकिन बारम्बार अनुभव यही होता है कि यह उत्तेजना जो उधार का सुख देती है, उसकी कीमत चक्रवर्ती ब्याज सहित वसूल करती है। यह कीमत हमें चुकानी पड़ती है—अपने स्वयं के खजाने में से—आत्म-सुख से। कभी-कभी हम एक उत्तेजना का उधार चुकाने के लिये दूसरी उत्तेजना से उधार ले लेते हैं। लेकिन दूसरी उत्तेजना हमें और भी बढ़ी हुई ब्याज की दर पर उधार देती है। यूँ उधार के झूठे सुख पर हम जीवन के दिन टलाते जाते हैं और एक दिन जब मृत्यु का सामना करते हैं तो हमारे पास इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहता कि एक ऐसी गहरी मूर्च्छा में जायें जहाँ कोई प्रतीति ही न हो। मूर्च्छित जीवन की चरम परिणति है—मृत्यु।

इस प्रकार जिस परिग्रह को हम तात्कालिक उपचार कह रहे हैं वह उपचार है ही नहीं; वह तो

वस्तुतः रोग की सघनता को बढ़ाने का ही एक साधन है। जब एक परिग्रह से हमारी वेदना शान्त नहीं होती तो हम इस परिणाम पर नहीं पहुँच पाते कि परिग्रह से वेदना शान्त नहीं होती है। भ्रमवश हम यह समझ लेते हैं कि हमारा परिग्रह छोटा है अतः वह वेदना शान्त नहीं कर पाया। परिणामतः हम और बड़े परिग्रह की खोज में निकल पड़ते हैं। जिस बड़े परिग्रह की खोज में हम निकलते हैं वह बड़ा परिग्रह जिनके पास पहले से ही है वे भी सुखी नहीं हैं—इस तथ्य की ओर हम देखते हुए भी नहीं देख पाते क्योंकि परिग्रह की खोज का भी एक मीठा नशा है जो हमें कुछ देखने ही नहीं देता।

परिग्रह की इस प्रकृति को देख कर ही जैन चिन्तकों ने परिग्रह को जो मूर्च्छा नाम दिया, वह पूरे संसार के चिन्तन में उनका एक अत्यन्त मूल्यवान योगदान माना जाना चाहिये।

परिग्रह-वृत्ति के मूल में एक गहरी भूल है। हम मान रहे हैं कि हम दुःखी इसलिये हैं कि हमारे पास सुख-सामग्री कम है जबकि हमारे दुःख का वास्तविक कारण यह है कि हम अपने स्वरूप को विस्मृत किये हुए हैं। अनन्त सुख का सागर हम में उपस्थित है। हमारी वेदना वस्तुतः यह है कि हम उस सुखसागर के सहज अधिकारी होकर भी उसके संस्पर्श से वञ्चित हैं किन्तु प्रतीति में

यह आता है कि हम परिग्रह के अभाव से दुःखी हैं। आत्मानन्द के अभाव की पूर्ति हम भोगानन्द से करना चाहते हैं। भोगानन्द आत्मानन्द से गुणात्मक रूप (क्वालिटेटिवली) से भिन्न है। भोगानन्द का परिमाण (क्वाण्टिटी) बढ़ जाने से वह गुणात्मक भेद की खाई नहीं पट सकती*। अतः परिग्रह कितना भी क्यों न बढ़ जाये, हमारी वेदना शान्त नहीं होती।**

परिग्रह के संचय से वेदना शान्त नहीं होती किन्तु हम उसकी व्याख्या सदा इस प्रकार कर लेते हैं कि परिग्रह की अल्पता के कारण वेदना शान्त नहीं हो रही। अतः हमारा सारा प्रयत्न परिग्रह के परिमाण को बढ़ाने में लगा रहता है। हमारी इस भ्रमात्मक दृष्टि का भी एक कारण है। आपाततः हमें दुःख का कारण परिस्थिति की प्रतिकूलता प्रतीत होता है। परिग्रह परिस्थिति की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल देता है। फिर भी सुख नहीं हो पाता क्योंकि सुख परिस्थिति की अनुकूलता

---

* सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ।
—समणसुत्तं १४५

** चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई॥
—समणसुत्तं १४१

से नहीं, कर्मों की लघुता से उत्पन्न होता है। परिग्रह कर्मों के भार को हल्का नहीं करता बल्कि बढ़ा देता है, अतः परिग्रह अन्ततोगत्वा दुःख को ही जन्म देता है।

सुख की यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—स्व तथा पर के स्वरूप का निश्चय। इस निश्चय के होते ही व्यक्ति की दिशा बदल जाती है। जो बाहर सुख ढूंढ़ रहा था वह आन्तरिक सुख की अभीप्सा करने लगता है। यही अपरिग्रह का प्रारम्भ बिन्दु बन जाता है। दर्शन मोहनीय के टूटने पर चारित्र मोहनीय का टूटना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों अन्तर का मोह क्षीण होता है, बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति भी क्षीण होने लगती है तथा ज्यों-ज्यों बाह्य पदार्थों का त्याग बढ़ता है त्यों-त्यों अन्तर का मोह क्षीण होने लगता है। यह मूर्च्छा से जागृति की ओर जाने की प्रक्रिया है।

परिग्रह मूर्च्छा है तो अपरिग्रह जागृति है। जागृति मायाजाल को छिन्न-भिन्न कर देती है। जागरण जैन संस्कृति का मूल मन्त्र है। उत्तेजना का जीवन मूर्च्छा का जीवन है। जागरण का जीवन आत्मरमण का जीवन है। जो आत्मा के प्रति जागरूक है वह मानों सांसारिक वैभव के प्रति सो जाता है; जो सांसारिक वैभव के प्रति जागरूक है वह आत्म वैभव के

प्रति सुप्त है। चेतना स्वयं रसमय है, उसे आनन्द के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं—जो इस तथ्य को जान लेता है उसके लिये परिग्रह स्वतः ही त्याज्य हो जाता है। ऐसे अपरिग्रह फलित होने पर हिंसा, झूठ, चोरी तथा मैथुन भी स्वयं ही छूट जाते हैं। अतः परिग्रह ही समस्त पाप का मूल है।*

अपरिग्रह की एक शर्त सशक्त होना है। परिग्रह एक सहारा है। सहारा उसे चाहिये जो स्वयं समर्थ नहीं है। अतः जो परिग्रह की खोज करते हैं, वे अपनी आन्तरिक निर्बलता को ही अभिव्यक्त करते हैं। जैसे अहिंसा के लिये बलवान होना आवश्यक है उसी प्रकार अपरिग्रह के लिये भी अपने आप में ही परिपूर्ण होना आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं में परिपूर्ण है; उसे बाहरी सहारे की आवश्यकता ही नहीं तथा यदि कोई अज्ञान-वश बाहरी सहारा चाहता भी है तो उसे निराशा ही हाथ लगती है। महावीर ने स्वावलम्बन का उपदेश दिया**। आलम्बन तो परमात्मा का भी श्रेयस्कर

---

* संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं, करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुणं मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो॥
—भगवती आराधना ११४३

** पुरिसा! तुममेव तुमंमित्तम्
—आचारांग १, ३ (३). ६२

नहीं फिर धन का आलम्बन लेना तो महामूर्खता है। महावीर का सन्देश है—अपनी शक्तियों को पहचानो, तुम्हें किसी बाहरी सहारे की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

अपरिग्रह की दूसरी शर्त श्रमशीलता है। हम परिग्रह का संचय इसलिये करते हैं कि श्रम से बचना चाहते हैं। पशु-पक्षी प्रतिदिन के श्रम का फल प्रतिदिन भोगते हैं। मनुष्य एक बार ही इतना संचय कर लेना चाहता है कि जीवन भर कुछ भी श्रम किये बिना ही सब सुख मिलते रहें। जैन धर्म संग्रह में नहीं, श्रम में विश्वास करता है। जैन धर्म का एक पुराना नाम 'श्रमण धर्म' है। जैन साधु का जीवन तो कठोर श्रम तथा स्वावलम्बन का उत्तम निदर्शन है।

अपरिग्रह की तीसरी शर्त अहिंसा है। अहिंसा जैन धर्म का पर्यायवाची बन चुकी है। दूसरे को—चाहे वह पदार्थ जड़ हो या चेतन—अपने आधीन बनाकर रखने की इच्छा हिंसा है। अतः समस्त परिग्रह हिंसा है। परिग्रह के साथ अहिंसा का कोई तालमेल नहीं है। वस्तुतः परिग्रह ही समस्त हिंसा का कारण है। अपरिग्रह को अहिंसा की अनिवार्य शर्त मानना जैन धर्म की अपनी विशेषता है। इसी तथ्य को कला के क्षेत्र में इन शब्दों में कहा जाता है कि त्याग प्रेम की अनिवार्य शर्त है। प्रेम देने में सुख मानता है, लेने में नहीं। जहाँ लेने में सुख है, वह वासना है, प्रेम नहीं।

अपरिग्रह की चौथी शर्त कुशलता है। जो अकुशल है वह सदा भयभीत रहता है कि न जाने उसे कब किस संकट का सामना करना पड़े।* कुशल व्यक्ति को सदा यह आत्म-विश्वास रहता है कि वह अपनी कार्य कुशलता से जहाँ चाहेगा वहाँ अपनी आवश्यकता के उपकरण जुटा लेगा। उसे भविष्य के लिये संग्रह करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। बौद्ध परम्परा में कुशल शब्द प्रसिद्ध है। जैन परम्परा में उसके स्थान पर अप्रमत्त शब्द प्रचलित है। हिन्दू परम्परा में कर्म कुशलता को ही योग कहा गया है। देखा जाये तो किसी भी कार्य की सफलता के पीछे चाहे वह कार्य लौकिक हो चाहे अलौकिक—अप्रमाद अथवा कर्मकुशलता ही रहती है।

अप्रमाद अथवा जागरूकता की जैन परम्परा ने एक विशिष्ट व्याख्या की है। प्रत्येक क्रिया के दो पक्ष रहते हैं—एक द्रव्य, दूसरा भाव। द्रव्य क्रिया का अर्थ है यान्त्रिक रूप में किया गया क्रिया का बाह्य रूप। भाव क्रिया का अर्थ है क्रिया के साथ कर्त्ता के भाव का तादात्म्य। द्रव्य क्रिया में मन कहीं, तन कहीं होता है। भाव क्रिया में शारीरिक क्रिया के साथ पूर्ण मनोयोग रहता है। कुशलता अथवा जागरूकता का अर्थ है कि हमारी प्रत्येक क्रिया भाव क्रिया हो, द्रव्य क्रिया नहीं। यही

---

* अपमत्तस्स नत्थि भयम्

अप्रमाद है। ऊँचे स्तर पर जहाँ भेद-विज्ञान बना है, वहाँ द्रष्टा-साक्षी भाव बनाये रखते हुए क्रिया करना भाव क्रिया है। यह भाव क्रिया ही अपरिग्रह का मूल है। इस भाव क्रिया के कारण ही साधु के उपकरण उसके परिग्रह नहीं बन पाते। जिसमें यह भाव क्रिया नहीं है वह लौकिक दृष्टि से भले ही अकिञ्चन भी क्यों न हो किन्तु अपरिग्रही नहीं है।* यदि ऐसा न मानेंगे तो समस्त पशु-पक्षी अपरिग्रह महाव्रती मानने होंगे।

अपरिग्रह के दो पक्ष हैं—एक निश्चय दूसरा व्यवहार। निश्चय दृष्टि से आन्तरिक अनासक्तिका भाव अपरिग्रह है। व्यवहार दृष्टि से उपकरणों का त्याग अपरिग्रह है। जमीन, जायदाद, सम्पत्ति (चल तथा अचल) ये सब बाह्य परिग्रह हैं। आभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष, नंपुसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया तथा लोभ आते

---

* अ. द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निवृत्तिरेनसां।
भावेतिष्ठित निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृत्तिः पुनः॥
—योगसार ५.५७

ब. बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणाज्झयणो गिरत्थओ भावरहियाणम्॥
—भावपाहुड ३.८६

हैं।* बाह्य परिग्रह के विवेचन में कोई विशेषता नहीं, किन्तु आन्तरिक परिग्रह का विवेचन जैन धर्म की अपनी विशेषता है। मनुष्य के वे स्थायी भाव जो रस उत्पन्न करते हैं (जान बूझकर यहाँ साहित्य शास्त्र की भाषा का उपयोग किया जा रहा है) आन्तरिक परिग्रह के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। अहिंसा के विवेचन में ये आन्तरिक परिग्रह ही प्रमाद के भेदों के रूप में परिगणित हैं।** भाव यह हुआ कि आन्तरिक परिग्रह ही वह प्रमाद है जो हिंसा का मूल है।

जैन धर्म की अपरिग्रह की अवधारणा को संक्षिप्त रूप में स्पष्ट कर देने पर जैन धर्म का एतद्विषयक मौलिक योगदान स्वयं ही उभर कर सम्मुख आ जाता है। जैन धर्म के तीर्थङ्कर अपने जीवन में व्यावहारिक रूप में अपरिग्रह के इतने कट्टर पक्षधर रहे कि उन्होंने अपरिग्रह की सैद्धान्तिक विवेचना में कहीं कोई त्रुटि शेष

---

* मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा॥
— समणसुत्तं १४३

** प्रमादः पंचविधः विकथाः कषायाः इन्द्रियविषयासक्तता निद्रा प्रणयश्चेति —भगवती आराधना ६१२/८१२/४

नहीं रहने दी। पूर्ण जागरूकता की स्थिति में उन्होंने परिग्रह की मूर्च्छामय प्रकृति को पहचाना। इस मूर्च्छा से बचने के लिये उन्होंने स्वावलम्बन, श्रम, अहिंसा तथा अप्रमाद के चार बहुमूल्य सूत्र दिये और अपने जीवन में उन्हें व्यवहारतः उतारकर भी दिखाया। अहिंसक के लिये अपरिग्रह तथा अपरिग्रही के लिये अहिंसा की शर्त को अनिवार्य करके उन्होंने समस्या की मूल पर चोट की।

अब जैन धर्म के इस योगदान का आधुनिक सन्दर्भ में मूल्यांकन करना अप्रासङ्गिक न होगा। मुझे अनेक स्थानों से निमन्त्रण प्राप्त होते हैं कि मैं विश्व शान्ति के लिये अहिंसा की आवश्यकता पर कुछ कहूं। विश्व शान्ति की समस्या आज की एक ज्वलन्त समस्या हो गयी है क्योंकि विज्ञान ने जो घातक अस्त्र-शस्त्र मनुष्य को उपलब्ध करा दिये हैं, डर है कि कहीं वह उनका सचमुच प्रयोग ही न कर दे अन्यथा सभ्यता और संस्कृति तो नष्ट होगी ही मानव जाति भी समूल नष्ट हो जायेगी। मोटे तौर पर ऐसा नजर आता है कि इस समस्या का समाधान अहिंसा से होगा। मैं इससे सहमत हूँ किन्तु इस शर्त के साथ कि हम यह न भूलें कि अहिंसा अपरिग्रह के बिना असम्भव है।

अपरिग्रह के होने पर अहिंसा तो स्वतः फलित होगी ही। यदि लोभ नहीं है तो द्वेष क्यों उत्पन्न होगा और द्वेष के बिना हिंसा का जन्म कैसे होगा ?*

अपरिग्रह पर मेरे आग्रहपूर्वक बल देने का कुछ कारण है। आज शान्ति की चर्चा सब करते हैं किन्तु अपरिग्रह की चर्चा करना पिछड़ापन माना जाता है। व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के अभ्युदय के लिये यह आवश्यक माना जाता है कि उसकी सम्पदा बढ़े। ऐसी स्थिति में 'गरीबी हटाओ' का नारा लगाया जा सकता है, 'परिग्रह हटाओ' का नारा लगाना कठिन है। जो राष्ट्र अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते रहते हैं वे भी निरन्तर अपना परिग्रह बढ़ाने में लगे हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसा प्रभावशाली नहीं हो सकती। राष्ट्रवाद का पागलपन राष्ट्रों को सुख-सम्पदा बढ़ाने की पागल दौड़ में धकेल रहा है। यह दौड़ पारस्परिक होड़ में परिणत होती है, पारस्परिक सहयोग में नहीं। होड़ में अपने प्रतिस्पर्धी का भय सदा लगा रहता है। अतः समृद्धि की दौड़ से शस्त्रों की होड़ भी अविभाज्य रूप में जुड़ी है।

---

* संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्हिंसा तयाशुभम्।
तेनश्वाभ्री गातेस्तस्यां दुखं वाचामगोचरम्॥
—ज्ञानार्णव १६/१२/१७८

समृद्धि की आकांक्षा शोषण को जन्म देती है। भारत पर जो विदेशियों के आक्रमण हुए, वे सम्पदा की खोज में ही हुए। आज भी महाशक्तियाँ अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने में लगी हैं। इसने शीत युद्ध की नयी स्थिति को जन्म दे दिया है। वस्तुतः स्थिति स्पष्ट है—लोभ क्रोध को जन्म देता है। जीवनयापन के लिये न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। राष्ट्र अपने नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करे—यह उसका धर्म है। किन्तु राष्ट्र को भी अपने लोभ पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखना आवश्यक है जिस प्रकार व्यक्ति को। यदि इस सत्य को न समझा गया तो केवल शान्ति का नारा लगाने से शान्ति स्थापित न होगी। मुझे ऐसा मार्ग नहीं दिखता कि राष्ट्र अन्धी विलासिता की दौड़ में भी अनियन्त्रित रूप से भाग लेते रहें और उनमें परस्पर टकराहट भी न हो। जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित परिग्रह-परिमाण-व्रत, संयम, तपस्या तथा आवश्यकताओं के कम करने के आदर्श विश्व शान्ति के हेतु अनिवार्य हैं।

आज जाने-अनजाने में हमारे आदर्श कुछ इस प्रकार के हो गये हैं कि सुख-सामग्री तो अधिकाधिक संग्रह की जाये किन्तु संघर्ष न हो। ये दो लक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। यदि हम संघर्ष को बचाना चाहते हैं तो सुख सामग्री को परिमित करने का आदर्श अपनाना ही होगा। राज-

नैतिक चिन्तक अपरिग्रह की बात न कर सकें तो समझ में आता है किन्तु आज अनेक धर्म नेता भी परिग्रह का समर्थन कुछ इस प्रकार के तर्क दे कर करते हैं कि बन्धन तो भावना से होता है; यदि मन में आसक्ति नहीं है तो बाहर कितनी भी सुख विलास की सामग्री क्यों न हो, पाप नहीं है। इसे राजयोग, विभूतियोग, अनासक्ति योग इत्यादि-इत्यादि ऊँचे-ऊँचे नाम देकर अपनी विलास-वृत्ति को छिपाने की चेष्टा की जाती है। जैन दर्शन की दृष्टि इस दिशा में स्पष्ट है। करण तीन हैं—मन, वचन, काया। पूर्ण त्याग तीनों करणों से होता है। कोई व्यक्ति मन की अनासक्ति का बहाना बनाकर शरीर से सुख भोगता रहे तो उसका त्याग अधूरा ही समझा जायेगा। मन में अनासक्ति और शरीर से भोग—यह तो एकीकृत (इन्टीग्रेटेड) व्यक्तित्व का लक्षण नहीं है।* मन की अनासक्ति बाह्य त्याग में प्रतिफलित होनी ही चाहिये।

बाह्य त्याग का भी अपना एक महत्त्व है। प्रकृति के संसाधन सीमित हैं। उनका अपरिमित भोग प्रकृति को खोखला कर देता है। आज ऊर्जा सङ्कट का प्रश्न

---

* जह कुण्डओण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्कं, मोहमलं संगसत्तस्स॥
—भगवती आराधना ११२०

है। हम ऊर्जा के सीमित उपयोग की बात कहते हैं। उद्योगीकरण की दौड़ में अन्धाधुन्ध जंगल काटे जा रहे हैं, तो प्रकृति का सन्तुलन समाप्त हो रहा है। नये-नये शौकों के लिये पशुओं की हत्या होती है ताकि उनकी खाल और बाल हमें प्राप्त हो सकें, किन्तु ये सब प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ते हैं। भोग-उपभोग की इच्छा को परिमित किये बिना इन अनर्थों का निवारण सम्भव नहीं है।

विज्ञान नये-नये आविष्कार कर रहा है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि विज्ञान जो कुछ प्रकृति में है, उसी का दोहन कर सकता है, कुछ नया सृजन नहीं कर सकता। अतः विज्ञान के सब आविष्कार प्रकृति पर दुहरी मार करते हैं; एक तो वे प्रकृति के सीमित संसाधनों का अविचारित उपयोग कर प्राकृतिक सम्पदा को जल्दी से जल्दी समाप्ति की ओर धकेलते हैं, दूसरे प्राकृतिक पर्यावरण में प्रदूषण उत्पन्न करते हैं। उद्योग जल और वायु दोनों को दूषित करते हैं। यही नहीं, घर में रखा फर्नीचर तथा फर्श पर बिछा गलीचा रोग के कीटाणुओं के पलने का स्थान बन जाता है। वातानुकूलन दमा जैसे रोगों को उत्पन्न करता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान का उपयोग नहीं होना चाहिये। इसका अर्थ केवल यह है कि

सभी साधनों का सुविचारित उपयोग आवश्यक है। गृहस्थ महाव्रती नहीं होता किन्तु अणुव्रती अवश्य हो सकता है। लौकिक दृष्टि से भी अणुव्रत लाभकारी है। विज्ञान के आविष्कारों के पहले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अनिवार्यतः शारीरिक श्रम करना पड़ता था। पुरुष पैदल यात्रा करता था। स्त्री चक्की चलाती थी। कूप से पानी निकालना अनिवार्य व्यायाम था। अब विज्ञान ने ये सब व्यायाम अनावश्यक कर दिये। श्रम का स्थान जीवन में न के बराबर रह गया। फलतः चिकित्सा विज्ञान की प्रगति के बावजूद रोगियों की संख्या बढ़ रही है। अपरिग्रह श्रम के मूल्य की प्रतिष्ठा करता है।

श्रम के साथ ही स्वावलम्बन भी जुड़ा है। सामन्तशाही युग में मनुष्य मनुष्य को दास समझता था। अतः दास-दासियों की भी गिनती परिग्रह में थी। आज दास प्रथा बन्द हो गयी किन्तु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दास बनाने के लिये आज भी आतुर है। गोरे-काले का भेद, ब्राह्मण-शूद्र का भेद—ये सब परोपजीवी वृत्ति के ही परिणाम हैं। स्वावलम्बन का सिद्धान्त सबको स्वातन्त्र्य देता है। अपना बोझा आप स्वयं सम्भालें—अपरिग्रह की यह घोषणा है। इस घोषणा को स्वीकार किये बिना युद्ध अथवा संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

कार्ल मार्क्स इस युग के एक महान् चिन्तक हो गये। संसार का एक बहुत बड़ा भाग आज उनके चिन्तन

से प्रभावित है। आपाततः कार्ल मार्क्स धर्म के विरोधी थे किन्तु उनके धर्म-विरोध में मूल तर्क यह था कि जो धर्म किसी अन्य के श्रम को किसी अन्य के द्वारा भोगने का विरोधी नहीं; तथा जो धर्म शोषण द्वारा संग्रह का विरोधी नहीं, वह धर्म निकम्मा है। इस विषय में मार्क्स महावीर के बहुत निकट हैं। यह सच है कि महावीर ने शोषण तथा संग्रह का विरोध व्यक्ति के सन्दर्भ में किया तथा मार्क्स ने यह विरोध सामाजिक सन्दर्भ में किया, किन्तु तत्त्वतः दोनों शोषण तथा संग्रह के विरोधी हैं।

मार्क्स के दर्शन के आलोक में जैन अपरिग्रह के सामाजिक सन्दर्भ को उभार सकते हैं तथा महावीर के दर्शन के आलोक में मार्क्सवादी अपरिग्रह के आध्यात्मिक मूल्य को समझ सकते हैं। इस प्रकार ये दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध होंगे, विरोधी नहीं। यह समझना ठीक नहीं कि जैन दर्शन व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण केवल कर्म को मानता है। कर्म के अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा इत्यादि अन्य भी अनेक कारण मिलकर व्यक्ति के सुख-दुःख को जन्म देते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यवस्था की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। महावीर ने केवल व्यक्तिगत साधना पद्धति ही नहीं दी, संघ की व्यवस्था भी दी। स्पष्ट है कि वे व्यवस्था को महत्त्व देते थे। मार्क्सवाद का व्यवस्था पर

ऐकान्तिक आग्रह है। मार्क्सवादी को भी यह समझना होगा कि व्यक्ति में कुछ ऐसा भी है जो केवल व्यवस्था का अंग नहीं है। व्यवस्था से स्वतन्त्र व्यक्ति की सत्ता से इन्कार करना, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का हनन है। कोई व्यवस्था व्यक्ति का उपयोग एक परिग्रह के रूप में नहीं कर सकती अन्यथा व्यक्ति एक दासता तथा शोषण से मुक्ति पाकर एक दूसरी दासता तथा शोषण के चंगुल में जा फंसेगा। मूल बात यह है कि सुख-सम्पदा जीवन का चरम लक्ष्य* नहीं हो सकता। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा धन से पूरी नहीं होती न धन उसे सुरक्षा की भावना प्रदान कर सकता है।**

युग करवट ले रहा है। मनुष्य ने विज्ञान द्वारा अभूतपूर्व शक्ति अर्जित कर ली है। किन्तु शक्ति के साथ विवेक आवश्यक है। महावीर का अपरिग्रह दर्शन वह विवेक प्रदान करता है जो शक्ति का दुरुपयोग होने से रोकता है। परिग्रहवादी सुख की खोज सम्पदा में कर रहा है किन्तु उसके हाथ केवल निराशा लग रही है। अपरिग्रह-वादी सुख की खोज आत्मा में करने को कहता है। आत्मा में सुख की खोज कुछ इने-गिने व्यक्तियों ने की किन्तु कभी सामूहिक रूप में यह खोज की ही नहीं गयी।

---

* न वित्तेणं तर्पणीयो मनुष्यः —कठोपनिषद्

** वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते —उत्तराध्ययन ४/५

समय आ गया है कि यह खोज सामूहिक रूप में की जाये।

महावीर के अनुयायियों के लिये अहिंसा के साथ अपरिग्रह को अपनाना आवश्यक हो गया है अन्यथा अहिंसा अपरिग्रह के बिना निकम्मी तो हो ही जाती है, वह यथास्थितिवाद की पोषक भी हो जाती है। हमारे सम्मुख विकल्प स्पष्ट है—अपरिग्रह को अपनाकर संसार में फैले अभाव से मानवता को राहत दिलायें या संग्रह की प्रवृत्ति से बढ़ती विषमता की ज्वाला से प्रादुर्भूत खूनी क्रान्ति का सामना करें।

सामूहिक रूप में राष्ट्रीय स्तर पर अभ्युदय तथा उन्नति के नाम पर जो परिग्रहवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय प्राप्त हो रहा है, वह एक खतरनाक आदर्श है। आज पूरा विश्व एक हो गया है। कहीं भी अन्यायपूर्ण विषमता पूरे संसार को प्रभावित करती है। लौकिक अभ्युदय की कामना राष्ट्र के लिये अनुचित नहीं, किन्तु उस कामना के साथ ही न्याय तथा विश्व-बन्धुत्व की यह भावना भी जुड़ी रहनी चाहिये कि हमें किसी दूसरे की कीमत पर अभ्युदय करने का अधिकार नहीं है। यह भावना राष्ट्रीय स्तर पर परिग्रह वृत्ति का स्वस्थ नियमन कर पायेगी।

●

अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के प्रकाशन

☐ **संगोष्ठी विवरण प्रकाशन माला**

१. बाल संस्कार शिक्षा साहित्य संगोष्ठी, अजमेर
२. जैन धर्म दर्शन संगोष्ठी, जलगाँव
३. युवापीढ़ी और रचनात्मक कार्यक्रम संगोष्ठी, मद्रास
४. समाज-सेवा संगोष्ठी, जलगाँव
५. स्वाध्याय-संगोष्ठी, रायचूर
६. सामाजिक-संगोष्ठी, जयपुर

☐ **ज्ञान-प्रसार पुस्तकमाला**

प्रत्येक का मूल्य २ ०० रु०

१. चरित्र निर्माण में नारी : डॉ शान्ता भानावत
२. जैन धर्म : जीवन धर्म : कन्हैयालाल लोढ़ा
३. सुखी जीवन कैसे जिएँ डॉ महेन्द्र सागर प्रचंडिया
४. स्वाध्याय : आचार्य श्री हस्तीमलजी म०सा०
५. जैन परम्परा के अनुष्ठान : चाँदमल कर्णावट
६. श्रावक धर्म : कन्हैयालाल दक
७. धर्म और हम : डॉ इन्दरराज बैद
८. भक्तामर स्तोत्र : कन्हैयालाल दक
९. सामायिक : आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०
१०. सेवा करें : सुखी रहें : कन्हैयालाल दक
११. जैन साधना में तप : सुभाष मुनि 'सुमन'
१२. ध्यान साधना : डॉ शिव मुनि
१३. अपरिग्रह : आधुनिक संदर्भ में : डॉ दयानन्द भार्गव

सम्पर्क सूत्र : **श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्**
सी-२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर–३०२ ००४

डॉ० दयानन्द भार्गव

डॉ० दयानन्द भार्गव जैन धर्म, दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ-साथ अन्य भारतीय दर्शनों और संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित और विशिष्ट व्याख्याता हैं। आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. व 'जैन एथिक्स' विषय पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

दिल्ली विश्वविद्यालय में २० वर्ष तक संस्कृत के प्राध्यापक रहने के बाद आपकी नियुक्ति राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान द्वारा संचालित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ जम्मू तथा प्रयाग के प्राचार्य पद पर हुई। सम्प्रति आप जोधपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य और अध्यक्ष व कला, शिक्षा तथा समाज विज्ञान संकाय के अधिष्ठाता हैं।

आप ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, और गहन अध्येता हैं। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत प्राकृत, आदि भाषाओं पर आपका अच्छा अधिकार है। आपके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें मुख्य हैं—जैन एथिक्स, जैन तर्क भाषा का सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद, जैन जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि, ऋचा-रहस्य, तर्क संग्रह, मुक्ति-दीपिका आदि।

प्रस्तुत पुस्तिका में 'अपरिग्रह की अवधारणा में जैन परम्परा का योगदान और उसकी आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिता' विषय पर आपके व्याख्यात का सारांश सरल, सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है।